जीवदया : एक परिशीलन

जीवदयाके प्रकार

१. जीवदयाका एक प्रकार पुण्यभावरूप है। पुण्यभावरूप होनेके कारण उसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धतत्त्वमें ही होता है, संवर और निर्जरामें अन्तर्भाव नहीं होता। यह पुण्यभावरूप जीवदया व्यवहारधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारण है। इस बातको आगे स्पष्ट किया जायेगा।

२. जीवदयाका दूसरा प्रकार जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चय धर्मरूप है। इसकी पुष्टि धवल-पुस्तक १३ के पृष्ठ ३६२ पर निर्दिष्ट निम्न वचनके आधारपर होती है—

करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो।

अर्थ—करुणा जीवका स्वभाव है अतः इसके कर्मजनित होनेका विरोध है।

यद्यपि धवलाके इस वचनमें जीव-दयाको जीवका स्वतःसिद्ध स्वभाव बतलाया है, परन्तु जीवके स्वतःसिद्ध स्वभाव-भूत वह जीवदया अनादिकालसे मोहनीयकर्मकी क्रोध-प्रकृतियोंके उदयसे विकृत रहती आई है, अतः मोहनीयकर्मकी उन क्रोध-प्रकृतियोंके यथास्थान यथायोग्यरूपमें होने वाले उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जब वह शुद्धरूपमें विकासको प्राप्त होती है तब उसे निश्चयधर्मरूपता प्राप्त हो जाती है। इसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धतत्त्वमें नहीं होता, क्योंकि जीवके शुद्ध स्वभावभूत होनेके कारण वह कर्मोंके आस्रव और बन्धका कारण नहीं होती है। तथा इसका अन्तर्भाव संवर और निर्जरा तत्त्वमें भी नहीं होता, क्योंकि इसकी उत्पत्ति ही संवर और निर्जरापूर्वक होती है।

३. जीवदयाका तीसरा प्रकार अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक होने वाली दयारूप शुभ प्रवृत्तिके रूपमें व्यवहारधर्मरूप है। इसका समर्थन भी आगम-प्रमाणोंके आधारपर होता है। इसका अन्तर्भाव अदयारूप अशुभप्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप होनेके आधारपर संवर और निर्जराका कारण हो जानेसे संवर और निर्जरा तत्त्वमें होता है, और दयारूप पुण्यप्रवृत्तिरूप होनेके आधारपर आस्रव और बन्धका कारण हो जानेसे आस्रव और बन्धतत्त्वमें भी होता है। कर्मोंके संवर और निर्जरणमें कारण होनेसे यह व्यवहार-धर्मरूप जीवदया जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारण सिद्ध होती है।

पुण्यभूत दयाका विशेष स्पष्टीकरण

भव्य और अभव्य दोनों प्रकारके जीव सतत विपरीताभिनिवेश और मिथ्याज्ञानपूर्वक आसक्तिवश अदयारूप संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्ति करते रहते हैं, तथा कदाचित् सांसारिक स्वार्थवश दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति भी किया करते हैं। ये जीव यदि कदाचित् अदयारूप संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तिके साथ सम्यक् अभिनिवेश और सम्यग्ज्ञानपूर्वक कर्त्तव्यवश दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करने लगते हैं तो उनके अन्तः-करणमें उस अदयारूप संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तिसे घृणा उत्पन्न हो जाती है और तब वे उस अदयारूप संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। इस तरह वह पुण्यभावरूप जीवदया अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्तिपूर्वक होने वाली दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप व्यवहार-धर्मकी उत्पत्तिमें कारण सिद्ध हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निश्चयधर्मरूप जीवदयाका विशेष स्पष्टीकरण

निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्ति भव्य जीवमें ही होती है, अभव्य जीवमें नहीं। तथा उस भव्य जीवमें उसकी उत्पत्ति मोहनीयकर्मके भेद अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन-रूप कषायोंकी क्रोधप्रकृतियोंका यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर शुद्ध स्वभावके रूपमें उत्तरोत्तर प्रकर्षको लेकर होती है। इसकी प्रतिक्रिया निम्न प्रकार है—

(क) अभव्य और भव्य दोनों प्रकारके जीवोंकी भाववती शक्तिका अनादिकालसे अनन्तानुबन्धी आदि उक्त चारों कषायोंकी क्रोध-प्रकृतियोंके सामूहिक उदयपूर्वक अदयारूप विभावपरिणमन होता आया है। दोनों प्रकारके जीवोंमें उस अदयारूप विभावपरिणमनकी समाप्तिमें कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंके विकासकी योग्यता भी स्वभावतः विद्यमान है। भव्य जीवोंमें तो उस अदयारूप विभाव-परिणतिकी समाप्तिमें अनिवार्य कारणभूत आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिके विकासकी योग्यता भी स्वभावतः विद्यमान है। इस तरह जिस भव्य जीवमें जब क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंका विकास हो जानेपर उक्त करणलब्धिका भी विकास हो जाता है तब सर्वप्रथम उस करणलब्धिके बलसे उस भव्य जीवमें मोहनीयकर्मके भेद दर्शनमोहनीयकर्मकी यथासंभवरूपमें विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन प्रकृतियोंका व चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथमभेद अनन्तानुबंधीकषायके नियमसे विद्यमान मान, माया और लोभ प्रकृतियोंके साथ क्रोध प्रकृतिका भी यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमें उसकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमें एक प्रकारका जीवदया-रूप परिणमन होता है।

(ख) इसके पश्चात् उस भव्यजीवमें यदि उस आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विशेष उत्कर्ष हो जावे, तो उसके बलमें उसमें चारित्रमोहनीय कर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरण कषायकी नियमसे विद्यमान मान, माया और लोभ प्रकृतियोंके साथ क्रोध-प्रकृतिका भी क्षयोपशम होनेपर पंचम गुणस्थानके प्रथम समयमें उसकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमें दूसरे प्रकारका जीवदयारूप परिणमन होता है।

(ग) इसके भी पश्चात् उस भव्यजीवमें यदि उस आत्मोमुखता-रूप करणलब्धिका और विशेष उत्कर्ष हो जावे तो उसके बलसे उसमें चारित्रमोहनीयकर्मके तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरण कषायकी नियमसे विद्यमान मान, माया और लोभ-प्रकृतियोंके साथ क्रोध-प्रकृतिका भी क्षयोपशम होनेपर सप्तमगुणस्थानके प्रथम समयमें उसकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमें तीसरे प्रकारका जीवदयारूप परिणमन होता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सप्तमगुणस्थानको प्राप्त जीव सतत सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम दोनों गुणस्थानोंमें अन्तर्मुहूर्त कालके अन्तरालसे झूलेकी तरह झूलता रहता है।

(घ) उक्त प्रकार सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम दोनों गुणस्थानोंमें झूलते हुए जीवमें यदि सप्तम गुणस्थानसे पूर्व ही दर्शनमोहनीयकर्मकी उक्त तीन और चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी उक्त चार—इन सात प्रकृतियोंका उपशम या क्षय हो चुका हो, अथवा सप्तम गुणस्थानमें ही उनका उपशम या क्षय हो जावे तो उसके पश्चात् वह जीव उस आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका सप्तम, अष्टम और नवम गुणस्थानोंमें क्रमशः अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके रूपमें और भी विशेष उत्कर्ष प्राप्त कर लेता है और तब नवम गुणस्थानमें ही उस जीवमें चारित्रमोहनीयकर्मके उक्त द्वितीय और तृतीय भेदरूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोंकी क्रोध-प्रकृतियोंके साथ चारित्रमोहनीय कर्मके चतुर्थ भेद संज्वलन कषायकी क्रोध-प्रकृतिका भी उपशम या क्षय होने पर उस जीवकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमें चौथे प्रकारका जीवदयारूप परिणमन होता है।

इस विवेचनका तात्पर्य यह है कि यद्यपि भव्य और अभव्य दोनों प्रकारके जीवोंकी भाववती शक्तिका अनादिकालसे चारित्रमोहनीयकर्मके भेद अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायोंकी क्रोधप्रकृतियोंके सामूहिक उदयपूर्वक अदयारूप विभावपरिणमन होता आया है, परन्तु जब जिस भव्यजीवकी उस भाववती शक्तिका वह अदयारूप विभाव-परिणमन यथास्थान उस-उस क्रोध-प्रकृतिका यथासंभव उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर यथायोग्यरूपमें समाप्त होता जाता है, तब उसके बलसे उस जीवकी उस भाववतीशक्तिका उत्तरोत्तर विशेषता लिए हुए शुद्ध स्वभावरूप निश्चयधर्मके रूपमें दयारूप परिणमन होता जाता है। इतना अवश्य है कि उन क्रोध-प्रकृतियोंका यथास्थान यथायोग्यरूपमें होने वाला वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम उस भव्य जीवमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंके विकासपूर्वक आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास होने पर ही होता है।

व्यवहारधर्मरूप जीवदयाका विशेष स्पष्टीकरण

भव्य जीवमें उपर्युक्त पाँचों लब्धियोंका विकास तब होता है जब वह जीव अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तियोंको क्रियावती शक्तिके ही परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तियोंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिपूर्वक करने लगता है। इन अदयारूप संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तियोंसे निवृत्तिपूर्वक की जानेवाली दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिका नाम ही व्यवहारधर्मरूप दया है। इस तरह यह निर्णीत है कि जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप व्यवहारधर्मरूप जीवदयाके बलपर ही भव्यजीवमें भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मरूप जीव-दयाकी उत्पत्तिमें कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धियोंका विकास होता है। इस तरह निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें व्यवहारधर्मरूप जीवदया कारण सिद्ध हो जाती है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कोई-कोई अभव्यजीव भी व्यवहारधर्मरूप दयाको अंगीकार करके अपनेमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंका विकास कर लेता है। इतना अवश्य है कि उसकी स्वभावभूत अभव्यताके कारण उसमें आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास नहीं होता है। इस तरह उसमें भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मरूप जीवदयाका विकास भी नहीं होता है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि भव्यजीवमें उक्त क्रोध-प्रकृतियोंका यथासम्भवरूपमें होने वाला वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम यद्यपि आत्मोन्मुखतारूप कारणलब्धिका विकास होनेपर ही होता है, परन्तु उसमें उस कारणलब्धिका विकास क्रमशः क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चारों लब्धियोंका विकास होनेपर ही होता है। अतः इन चारों लब्धियोंको भी उक्त क्रोध-प्रकृतियोंके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें कारण माना गया है।

जीवका भाववती और क्रियावती शक्तियोंके सामान्य परिणमनोंका विवेचन

जीवकी भाववती और क्रियावती—इन दोनों शक्तियोंको आगममें उनके स्वतःसिद्ध स्वभावके रूपमें बतलाया गया है। इनमेंसे भाववतीशक्तिके परिणमन एक प्रकारसे तो मोहनीयकर्मके उदयमें विभावरूप, व उसके उपशम, क्षय या क्षयोपशममें शुद्धस्वभावरूप होते हैं तथा दूसरे प्रकारसे हृदयके सहारेपर तत्त्व-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रद्धानरूप या अतत्त्वश्रद्धानरूप और मस्तिष्कके सहारेपर तत्त्वज्ञानरूप या अतत्त्वज्ञानरूप होते हैं। एवं क्रियावती शक्तिके परिणमन संसारावस्थामें एक प्रकारसे तो मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभ और पापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप होते हैं, दूसरे प्रकारसे पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिपूर्वक मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप होते हैं और तीसरे प्रकारसे सक्रिय मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणाके सहारेपर पुण्यरूपता और पापरूपतासे रहित आत्मक्रियाके रूपमें होते हैं। इनके अतिरिक्त संसारका विच्छेद हो जानेपर जीवकी क्रियावती शक्तिका चौथे प्रकारसे जो परिणमन होता है, वह स्वभावतः उर्ध्वगमन-रूप होता है। जीवकी क्रियावती शक्तिके इन चारों प्रकारसे होने वाले परिणमनोंमेंसे पहले प्रकारके परिणमन कर्मोंके आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारों प्रकारके बन्धमें कारण होते हैं। दूसरे प्रकारके परिणमन पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तरूप होनेसे भव्यजीवमें यथायोग्य कर्मोंके संवरपूर्वक निर्जरणमें कारण होते हैं, तथा पुण्यरूप शुभ प्रवृत्ति-रूप होनेसे यथायोग्य कर्मोंके आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारों प्रकारके बन्धमें कारण होते हैं। तीसरे प्रकारके परिणमन पुण्यरूपता और पापरूपतासे रहित होनेसे केवल सातावेदनीयकर्मके आस्रवपूर्वक प्रकृति तथा प्रदेश बन्धमें कारण होते हैं और चौथे प्रकारका परिणमन केवल आत्माश्रित होनेसे कर्मोंके आस्रव और बन्धमें कारण नहीं होता है और कर्मोंके संवर और निर्जरणपूर्वक उन कर्मोंका सर्वथा अभाव हो जानेसे कर्मोंका संवर और निर्जरणका कारण होनेका तो प्रश्न ही नहीं रहता है।

जीवकी क्रियावती शक्तिके प्रवृत्तिरूप परिणमनोंका विश्लेषण

जीवकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर अतत्त्वश्रद्धानरूप और मस्तिष्कके सहारे पर अतत्त्व-ज्ञानरूप जो परिणमन होते हैं, उनसे प्रभावित होकर जीवकी क्रियावती शक्तिके आसक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन होते हैं। एवं कदाचित् सांसारिक स्वार्थवश पुण्यमय शुभप्रवृत्तिरूप परिणमन भी होते हैं, इसी तरह जीवकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर तत्त्वश्रद्धान-रूप और मस्तिष्कके सहारेपर तत्त्वज्ञानरूप जो परिणमन होते हैं उनसे प्रभावित होकर जीवकी क्रियावती शक्तिके एक तो आसक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भीपापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन होते हैं और दूसरे कर्त्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभप्रवृत्तिरूप परिणमन होते हैं।

संसारी जीव आसक्ति, मोह, ममता तथा राग और द्वेषके वशीभूत होकर मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिरूप जो लोकविरुद्ध हिंसा, झूठ, चोरी तथा पदार्थोंके अनावश्यक भोग और संग्रह-रूप क्रियाएँ सतत करता रहता है, वे सभी क्रियाएँ संकल्पी पाप कहलाती हैं। इनमें सभी तरहकी स्वपरहितविघातक क्रियाएँ अन्तर्भूत होती हैं।

संसारी जीव अशक्ति, मजबूरी आदि अनिवार्य परिस्थितियोंवश मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति-रूप जो लोकसम्मत हिंसा, झूठ, चोरी तथा आवश्यक भोग और संग्रहरूप क्रियाएँ करता है, वे सभी क्रियाएँ आरम्भीपाप कहलाती हैं। इनमें जीवनका संचालन, कुटुम्बका भरण-पोषण तथा धर्म, संस्कृति, समाज, राष्ट्र और लोकका संरक्षण आदि उपयोगी कार्योंको सम्पन्न करनेके लिए नीतिपूर्वक की जानेवाली असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प, वाणिज्य तथा अनिवार्य भोग और संग्रहरूप क्रियाएँ अन्तर्भूत होती हैं।

संसारी जीव जितनी परहितकारी मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियाएँ करता है, वे सभी क्रियाएँ पुण्य कहलाती हैं। इस प्रकारकी पुण्यरूप क्रियाएँ दो प्रकारकी होती हैं—एक तो सांसारिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वार्थवशकी जानेवाली पुण्यरूप क्रिया और दूसरी कर्त्तव्यवशकी जानेवाली पुण्यरूप क्रिया। इनमेंसे कर्त्तव्यवशकी जानेवाली पुण्यरूप क्रिया ही वास्तविक पुण्यक्रिया है। ऐसी पुण्यक्रियासे ही परोपकारकी सिद्धि होती है। इसके अतिरिक्त वीतरागी देवकी आराधना, वीतरागताके पोषक शास्त्रोंका पठन-पाठन, चिन्तन और मनन व वीतरागताके मार्गपर आरूढ़ गुरुओंकी सेवा-भक्ति तथा स्वावलम्बनशक्तिको जागृत् करनेवाले व्रताचरण और तपश्चरण आदि भी पुण्यक्रियाओंमें अन्तर्भूत होते हैं।

यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि उक्त आरम्भी पाप भी यदि आसक्ति आदिके वशीभूत होकर किये जाते हैं तथा पुण्य भी अहंकार आदिके वशीभूत होकर किये जाते हैं तो उन्हें संकल्पी पाप ही जानना चाहिए।

संसारी जीवकी क्रियावती शक्तिके दया और अदया-रूप परिणमनोंका विवेचन

ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि जीवकी भाववतीशक्तिका चारित्रमोहनीय कर्मके भेद अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायोंकी क्रोधप्रकृतियोंके उदयमें अदयारूप विभाव-परिणमन होता है, और उन्हीं क्रोधप्रकृतियोंके यथास्थान, यथासंभवरूपमें होनेवाले उपशम, क्षय या क्षयोपशममें दयारूप स्वभाव-परिणमन होता है। यहाँ जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक परिणमनोंके विषयमें यह बतलाया जा रहा है कि जीवद्वारा परहितकी भावनासेकी जानेवाली क्रियाएँ पुण्यके रूपमें दया कहलाती हैं और जीवद्वारा परके अहितकी भावनासे की जानेवाली क्रियाएँ संकल्पीपापके रूपमें अदया कहलाती हैं। इनके अतिरिक्त जीवकी जिन क्रियाओंमें परके अहितकी भावना प्रेरक न होकर केवल स्वहितकी भावना प्रेरक हो, परन्तु जिनसे परका अहित होना निश्चित हो, वे क्रियाएँ आरम्भीपापके रूपमें अदया कहलाती हैं। जैसे—एक व्यक्ति द्वारा अनीतिपूर्वक दूसरे व्यक्तिपर आक्रमण करना संकल्पीपापरूप अदया है, परन्तु उस दूसरे व्यक्ति द्वारा आत्म-रक्षाके लिए उस आक्रामक व्यक्तिपर प्रत्याक्रमण करना आरम्भीपापरूप अदया है।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि जीवकी पुण्यमय क्रिया संकल्पीपापमय क्रियाके साथ भी संभव है और आरम्भीपापमय क्रियाके साथ भी संभव है, परन्तु संकल्पी और आरम्भी दोनों पापरूप क्रियाओंमें जीवकी प्रवृत्ति एकसाथ नहीं हो सकती है, क्योंकि संकल्पीपापरूप क्रियाओंके साथ जो आरम्भीपापरूप क्रियाएँ देखनेमें आती हैं उन्हें वास्तवमें संकल्पी पापरूप क्रियाएँ ही मानना युक्तिसंगत हैं। इस तरह संकल्पीपापरूप क्रियाओंसे सर्वथा त्यागपूर्वक जो आरम्भीपापरूप क्रियाएँ की जाती हैं, उन्हें ही वास्तविक आरम्भीपापरूप क्रियाएँ समझना चाहिए।

व्यवहारधर्मरूप दयाका विश्लेषण और कार्य

ऊपर बतलाया जा चुका है कि जीव द्वारा मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पीपापमय अदया-रूप अशुभ क्रियाओंके साथ परहितकी भावनासे की जाने वाली मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ क्रियाएँ पुण्यके रूपमें दया कहलाती हैं और वे कर्मोंके आस्रव और बन्धका कारण होती हैं, परन्तु भव्य और अभव्य दोनों प्रकारके जीवों द्वारा कम-से-कम मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ क्रियाओंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें होनेवाली सर्वथानिवृत्तिपूर्वक जो मानसिक, वाचनिक और कायिक दयाके रूपमें पुण्यमय शुभ क्रियाएँ की जाने लगती हैं वे क्रियाएँ ही व्यवहारधर्मरूप दया कहलाती हैं। इसमें हेतु यह है कि उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ क्रियाओंसे निवृत्तिपूर्वक की जानेवाली पुण्यभूत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दया भव्य और अभव्य दोनों प्रकारके जीवोंमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंके विकासका कारण होती है तथा भव्यजीवमें तो वह पुण्यरूप दया इन लब्धियोंके विकासके साथ आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिके विकासका कारण होती है। उक्त करणलब्धि प्रथमतः मोहनीयकर्मके भेद दर्शनमोहनीय कर्मकी यथासंभव रूपमें विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिरूप तीन व मोहनीयकर्मके भेद चारित्र-मोहनीयकर्मकी अनन्तानुबन्धी कषायरूप क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार—इस तरह सात प्रकृतियोंके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें कारण होती हैं। इस तरह उक्त व्यवहारधर्मरूप दया कर्मोंके संवर और निर्जरणमें कारण सिद्ध हो जाती है। इतनी बात अवश्य है कि उस व्यवहारधर्मरूप दयामें जितना पुण्यमय दयारूप प्रवृत्तिका अंश विद्यमान रहता है वह तो कर्मोंके आस्रव और बन्धका ही कारण होता है तथा उस व्यवहारधर्मरूप दयाका संकल्पीपापमय अदयारूप प्रवृत्तिसे होनेवाली सर्वथानिवृत्तिका अंश ही कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण होता है। द्रव्यसंग्रहग्रन्थकी गाथा ४५ में जो व्यवहार-चारित्रका लक्षण निर्धारित किया गया है, उसके आधारपर व्यवहारधर्मरूप दयाका स्वरूप स्पष्ट रूपसे समझमें आ जाता है। वह गाथा निम्न प्रकार है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥४५॥

अर्थ—अशुभसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाली शुभ प्रवृत्तिको जिन भगवान्ने व्यवहार-चारित्र कहा है। ऐसा व्यवहार-चारित्र व्रत, समिति और गुप्तिरूप होता है।

इस गाथामें व्रत, समिति और गुप्तिको व्यवहारचारित्र कहनेमें हेतु यह है कि इनमें अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्तिका रूप पाया जाता है। इस तरह इस गाथासे निर्णीत हो जाता है कि जीव पुण्यरूप दया-के साथ करता है तबतक तो उस दयाका अन्तर्भाव पुण्यरूप दयामें होता है और वह जीव उक्त पुण्यरूप जीव-दयाको जब पापरूप अदयासे निवृत्तिपूर्वक करने लग जाता है तब वह पुण्यभूत दया व्यवहारधर्मका रूप धारण कर लेती है, क्योंकि इस दयासे जहाँ एक ओर पुण्यमय प्रवृत्तिरूपताके आधारपर कर्मोंका आस्रव और बन्ध होता है वहाँ दूसरी ओर उस दयासे पापरूप अदयासे निवृत्तिरूपताके आधारपर भव्यजीवमें कर्मोंका संवर और निर्जरण भी हुआ करता है। व्यवहारधर्मरूप दयासे कर्मोंका संवर और निर्जरण होता है, इसकी पुष्टि आचार्य वीरसेनके द्वारा जयधवलाके मंगलाचरणकी व्याख्यामें निर्दिष्ट निम्न वचनसे होती है—

सुह-सुद्धपरिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।

अर्थ—शुभ और शुद्धके रूपमें मिश्रित परिणामोंसे यदि कर्मक्षय नहीं होता हो, कर्मक्षयका होना असंभव हो जायेगा।

आचार्य वीरसेनके वचनसे 'सुह-सुद्धपरिणामेहि' पदका ग्राह्य अर्थ

आचार्य वीरसेनके वचनके 'सुह-सुद्धपरिणामेहि' पदमें सुह और शुद्ध दो शब्द विद्यमान हैं। इनमेंसे 'सुह' शब्दका अर्थ भव्यजीवकी क्रियावती शक्तिके प्रवृत्तिरूप शुभ परिणमनके रूपमें और 'सुद्ध' शब्दका अर्थ उस भव्यजीवकी क्रियावती शक्तिके अशुभसे निवृत्तिरूप शुद्ध परिणमनके रूपमें ग्रहण करना ही युक्त है। 'सुह' शब्दका अर्थ जीवकी भाववतीशक्तिके पुण्यकर्मके उदयमें होनेवाले शुभ परिणामके रूपमें और 'सुद्ध' शब्दका अर्थ उस जीवकी भाववतीशक्तिके मोहनीयकर्मके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाले शुद्ध परिणमनके रूपमें ग्रहण करना युक्त नहीं है। आगे इसी बातको स्पष्ट किया जाता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ और अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन कर्मोंके आस्रव और बन्धके कारण होते हैं और उसी क्रियावतीशक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक उन प्रवृत्तिरूप परिणमनोंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिरूप शुद्ध परिणमन भव्यजीवमें कर्मोंके संवर और निर्जरणके कारण होते हैं। जीवकी भाववतीशक्तिके न तो शुभ और अशुभ परिणमन कर्मोंके आस्रव और बन्धके कारण होते हैं, और न ही उसके शुद्ध परिणमन कर्मोंके संवर और निर्जरणके कारण होते हैं, इसमें यह हेतु है कि जीवकी क्रियावतीशक्तिका मन, वचन और कायिक सहयोगसे जो क्रियारूप परिणमन होता है, उसे योग कहते हैं ('कायवाङ्मनःकर्म योगः'—त० सू० ६-१)। यह योग यदि जीवकी भाववतीशक्तिके पूर्वोक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमनोंसे प्रभावित हो तो उसे शुभ योग कहते हैं और वह योग यदि जीवकी भाववतीशक्तिके पूर्वोक्त अतत्त्वश्रद्धान, अतत्त्वज्ञान रूप अशुद्ध परिणमनोंसे प्रभावित हो तो उसे अशुभ योग कहते हैं, ('शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः। अशुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः अशुभः'—सर्वार्थसिद्धि ६-३)। यह योग ही कर्मोंका आस्रव अर्थात् बन्धका द्वार कहलाता है। ('स आस्रवः' त० सू० ६-२)। इस तरह जीवकी क्रियावती शक्तिका शुभ और अशुभ योगरूप परिणमन ही कर्मोंके आस्रव-पूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप बन्धका कारण सिद्ध होता है।

यद्यपि योगकी शुभरूपता और अशुभरूपताका कारण होनेसे जीवकी भाववतीशक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमनोंको व अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमनोंको भी कर्मोंके आस्रवपूर्वक बन्धका कारण मानना अयुक्त नहीं है, परन्तु कर्मोंके आस्रव और बन्धका साक्षात् कारण तो योग ही निश्चित होता है। जैसे कोई डाक्टर शीशीमें रखी हुई तेजाबको भ्रमवश आँखकी दवाई समझ रहा है तो भी तबतक तेजाब रोगीकी आँखको हानि नहीं पहुँचाती है, जबतक वह डाक्टर उस तेजाबको रोगी-की आँखमें नहीं डालता है। जब डाक्टर उस तेजाबको रोगीकी आँखमें डालता है तो तत्काल वह तेजाब रोगीकी आँखको हानि पहुँचा देती है। इसी तरह आँखकी दवाईको आँखकी दवाई समझकर भी जबतक डाक्टर उसे रोगीकी आँखमें नहीं डालता है तबतक वह दवाई उस रोगीकी आँखको लाभ नहीं पहुँचाती है। परन्तु, जब डाक्टर उस दवाईको आँखमें डालता है, तो तत्काल वह दवाई रोगीकी आँखको लाभ पहुँचा देती है। इससे निर्णीत होता है कि जीवकी क्रियावतीशक्तिका शुभ और अशुभ योगरूप परिणमन ही आस्रव और बन्धका कारण होता है। इतना अवश्य है कि जीवकी भाववतीशक्तिका हृदयके सहारेपर होनेवाला तत्त्व-श्रद्धानरूप शुभ परिणमन या अतत्त्वश्रद्धानरूप अशुभ परिणमन और जीवकी भाववतीशक्तिका मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमन या अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमन भी योगकी शुभरूपता और अशुभरूपतामें कारण होनेसे परम्परया आस्रव और बन्धमें कारण माने जा सकते हैं, परन्तु आस्रव और बन्धमें साक्षात् कारण तो योग ही होता है।

इसी प्रकार जीवकी क्रियावतीशक्तिके योग-रूप परिणमनके निरोधको ही कर्मके संवर और निर्जरणमें कारण मानना युक्त है—('आस्रवनिरोधः संवरः'—त० सू० ९-१)। जीवकी भाववतीशक्तिके मोहनीयकर्मके यथासंभव उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाले स्वभावभूत शुद्ध परिणमनोंको संवर और निर्जराका कारण मानना युक्त नहीं है, क्योंकि भाववतीशक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमन मोहनीयकर्मके यथासंभव उपशम, क्षय या क्षयोपशमपूर्वक होनेके कारण संवर और निर्जराके कार्य हो जानेसे कर्मोंके संवर और निर्जरणमें कारण सिद्ध नहीं होते हैं। एक बात और, जब जीवकी क्रियावतीशक्तिके योगरूप परिणमनोंसे कर्मोंका आस्रव होता है तो कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण योग-निरोधको ही मानना युक्त होगा। यही कारण है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवमें गुणस्थानक्रमसे जितना-जितना योगका निरोध होता जाता है उस जीवमें वहाँ उतना-उतना कर्मोंका सवर नियमसे होता जाता है तथा जब योगका पूर्ण निरोध हो जाता है तब कर्मोंका संवर भी पूर्णरूपसे हो जाता है। कर्मोंका संवर होनेपर बद्ध कर्मोंकी निर्जरा या तो निषेक-रचनाके अनुसार सविपाकरूपमें होती है अथवा 'तपसा निर्जरा च' (त० सू० ९-३) के अनुसार क्रियावतीशक्तिके परिणमन-स्वरूप तपके बलपर अविपाकरूपमें होती है। इसके अतिरिक्त यदि जीवकी भाववतीशक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमनोंको संवर और निर्जराका कारण स्वीकार किया जाता है तो जब द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें ही भाववतीशक्तिके स्वभावभूत परिणमनकी शुद्धताका पूर्ण विकास हो जाता है तो एक तो द्वादश और त्रयोदश गुणस्थानोंमें सातावेदनीय कर्मका आस्रवपूर्वक प्रकृति और प्रदेशरूपमें बन्ध नहीं होना चाहिए। दूसरे, द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें ही भाववतीशक्तिके स्वभावभूत परिणमनकी शुद्धताका पूर्ण विकास हो जाने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों घाती-कर्मोंका तथा चारों अघाती-कर्मोंका सर्वथा क्षय हो जाना चाहिए। परन्तु जब ऐसा होता नहीं है तो यही स्वीकार करना पड़ता है कि आस्रव और बन्धका मूल कारण योग है और विद्यमान ज्ञानावरणादि उक्त तीनों घाती-कर्मोंकी एवं चारों अघाती-कर्मोंकी निर्जरा निषेकक्रमसे ही होती है। त्रयोदश गुणस्थानमें केवली भगवान् अघाती कर्मोंकी समान स्थितिका निर्माण करनेके लिए जो समुद्घात करते हैं वह भी उनकी क्रियावतीशक्तिका ही कायिक परिणमन है।

इस विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जयधवलाके मंगलाचरणकी व्याख्यामें निर्दिष्ट आचार्य वीरसेनके उपर्युक्त वचनके अंगभूत 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पदसे जीवकी क्रियावतीशक्तिके अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक शुभमें प्रवृत्ति-रूप परिणमनोंका अभिप्राय ग्रहण करना ही संगत है। भाववतीशक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ व मोहनीयकर्मके यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाले स्वभावभूत शुद्ध परिणमनोंका अभिप्राय ग्रहण करना संगत नहीं है।

यहाँ यह बात भी विचारणीय है कि जयधवलाके उक्त वचनके 'सुह-सुद्ध परिणामेहिं' पदके अन्तर्गत 'सुद्ध' शब्दका अर्थ यदि जोवकी भाववतीशक्तिके मोहनीयकर्मके यथासंभव उपशम, क्षय या क्षयोपशममें विकासको प्राप्त शुद्ध परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मके रूपमें स्वीकार किया जाये तो उस पदके अन्तर्गत 'सुह' शब्दका अर्थ पूर्वोक्त प्रकार जीवको भाववतीशक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमनके रूपमें तो स्वीकार किया ही नहीं जा सकता है, इसलिए उस 'सुह' शब्दका अर्थ यदि जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणमन स्वरूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिके रूपमें स्वीकार किया जाये तो यह भी संभव नहीं है, क्योंकि पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति तो कर्मोंके आस्रव और बन्धका ही कारण होती है। अतः उस 'सुह' शब्दका अर्थ जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिके रूपमें ही स्वीकार करना होगा, क्योंकि इस प्रकारके व्यवहार-धर्मके पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप अंशसे जहाँ कर्मोंका आस्रव और बन्ध होता है वहीं उसके पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप अंशसे कर्मोंका संवर और निर्जरण भी होता है। परन्तु ऐसा स्वीकार कर लेनेपर भी जीवकी भाववतीशक्तिके स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप परिणमनको पूर्वोक्त प्रकार कर्मोंके संवर ओर निर्जरणका कारण सिद्ध न होनेसे 'सुद्ध' शब्दका अर्थ कदापि नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार जयधवलाके 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पदके अन्तर्गत 'सुद्ध' शब्दके निरर्थक होनेका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। अतः उक्त 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' इस सम्पूर्ण पदका अर्थ जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणामस्वरूप पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिके रूपमें ही ग्राह्य हो सकता है।

यदि यह कहा जाय कि जीवको मोक्षकी प्राप्ति उसकी भाववतीशक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मके रूपमें परिणमन होनेपर ही होती है, इसलिए 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पदके अन्तर्गत 'सुद्ध' शब्द निरर्थक नहीं है तो इस बातको स्वीकार करनेमें यद्यपि कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु ऐसा स्वीकार करनेपर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि मोक्षकी प्राप्ति जीवकी भाववतीशक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमनके होनेपर होना एक बात है और उस स्वभावभूत शुद्ध परिणमनको कर्मक्षयका कारण मानना अन्य बात है, क्योंकि वास्तवमें देखा जाये तो द्वादशगुणस्थानवर्ती जीवका वह शुद्ध स्वभाव मोक्षरूप शुद्ध स्वभावका ही अंश है जो मोहनीयकर्मके सर्वथा क्षय होनेपर ही प्रकट होता है।

अन्तमें एक बात यह भी विचारणीय है कि उक्त 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पदके अन्तर्गत 'सुद्ध' शब्दका जीवकी भाववतीशक्तिका स्वभावभूत शुद्ध परिणमन अर्थ स्वीकार करनेपर पूर्वोक्त यह समस्या तो उपस्थित है ही कि द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें शुद्धस्वभावभूत निश्चयधर्मका पूर्ण विकास हो जानेपर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों घाती कर्मोंका एवं चारों अघाती कर्मोंके एक साथ क्षय होनेकी प्रसक्ति होती है। साथ ही यह समस्या भी उपस्थित होती है कि जीवकी भाववतीशक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमनके विकासका प्रारम्भ, जब प्रथम गुणस्थानके अन्त समयमें मोहनीयकर्मकी मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिरूप तीन और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ-रूप चार, इन सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाने पर चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमें होता है, तो ऐसी स्थितिमें उस स्वभावभूत शुद्ध परिणमनको कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण कैसे माना जा सकता है? अर्थात् नहीं माना जा सकता है। यह बात पूर्वमें स्पष्ट की जा चुकी है।

प्रकृतमें कर्मोंके आस्रव और बन्ध तथा संवर और निर्जराकी प्रक्रिया

१. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव जबतक आसक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति करते रहते हैं तबतक वे उस प्रवृत्तिके आधारपर सतत कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं, तथा उस संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तिके साथ वे यदि कदाचित् सांसारिक स्वार्थवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी करते हैं तो भी वे उन प्रवृत्तियोंके आधारपर सतत कर्मोंका आस्रव और बन्ध भी किया करते हैं।

२. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव जब आसक्तिवश होनेवाले संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्तिको कर्त्तव्यवश करने लगते हैं, तब भी वे कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं।

३. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें सर्वथा त्यागकर यदि आसक्तिवश होने वाले मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करने लगते हैं, तो भी वे कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं।

४. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव यदि उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके उक्त प्रकार सर्वथा त्यागपूर्वक उक्त आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका भी मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें एकदेश अथवा सर्वदेश त्यागकर कर्त्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करने लगते हैं, तो भी वे कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं।

५. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा त्याग-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर उक्त आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करते हुए अथवा उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा व उक्त आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका एकदेश या सर्वदेश त्यागकर कर्त्तव्यवश पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करते हुए यदि क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंका अपनेमें विकास कर लेते हैं, तो भी वे कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं।

६. यतः मिथ्यात्व गुणस्थानके अतिरिक्त सभी गुणस्थान भव्य जीवके ही होते हैं, अभव्य जीवके नहीं, अतः जो भव्य जीव सासादन सम्यग्दृष्टि हो रहे हों, उनमें भी उक्त पाँचों अनुच्छेदोंमेंसे दो, तीन और चार संख्यक अनुच्छेदोंमें प्रतिपादित व्यवस्थाएँ यथायोग्य पूर्वसंस्कारवश या सामान्यरूपसे लागू होती हैं, तथा अनुच्छेद तीन और चारमें प्रतिपादित व्यवस्थाएँ मिथ्यात्व गुणस्थानकी ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंमें भी लागू होती हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंमें अनुच्छेद एकमें प्रतिपादित व्यवस्था इसलिए लागू नहीं होती कि वे जीव एक तो केवल संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति कदापि नहीं करते हैं व उनकी प्रवृत्तिपूर्वक होनेके कारण वे पुण्यमय दयारूप प्रवृत्ति भी सांसारिक स्वार्थवश नहीं करते हैं, तथा उनमें अनुच्छेद पाँचमें प्रतिवादित व्यवस्था इसलिए लागू नहीं होती कि वे अपना समय व्यतीत करके नियमसे मिथ्यात्व गुणस्थान को ही प्राप्त करते हैं। इसी तरह मिथ्यात्व गुणस्थानकी ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंमें अनुच्छेद एक और दोमें प्रतिपादित व्यवस्थाएँ इसलिए लागू नहीं होतीं कि उनमें संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा अभाव रहता है तथा उनमें अनुच्छेद पाँचकी व्यवस्था इसलिए लागू नहीं होती कि वे भी मिथ्यात्वगुणस्थानकी ओर झुके हुए होनेके कारण अपना समय व्यतीत करके मिथ्यात्व गुणस्थानको ही प्राप्त करते हैं। इस तरह सासादनसम्यग्दृष्टि और मिथ्यात्वगुणस्थानकी ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सतत यथायोग्य कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंके साथ सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंकी प्रवृत्तियाँ भी अबुद्धिपूर्वक हुआ करती हैं।

७. उपर्युक्त जीवोंसे अतिरिक्त जो भव्यमिथ्यादृष्टि जीव और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व-प्राप्तिकी ओर झुके हुए हों अर्थात् सम्यक्त्व-प्राप्तिमें अनिवार्य कारणभूत करणलब्धिको प्राप्त हो गये हों, वे नियमसे यथायोग्य कर्मोंका आस्रव और बन्ध करते हुए भी दर्शनमोहनीयकर्मकी यथासम्भवरूपमें विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन तथा चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी नियमसे विद्यमान—क्रोध, मान, माया और लोभ-रूप चार—इस तरह सात कर्म-प्रकृतियोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशम रूपमें संवर और निर्जरण किया करते हैं। इसी तरह चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर आगेके गुण-स्थानोंमें विद्यमान जीव यथायोग्य कर्मोंका आस्रव और बन्ध, यथायोग्य कर्मोंका संवर और निर्जरण किया करते हैं।

उपर्युक्त विवेचनका फलितार्थ

१. कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति ही किया करते हैं। अथवा संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ सांसारिक स्वार्थवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी किया करते हैं। कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति कर्त्तव्यवश किया करते हैं। कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पी-पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागपूर्वक आरम्भीपापमय अदयारूप शुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं एवं कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा व आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग-पूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

२. कोई सासादनसम्यग्दृष्टि जीव सामान्यरूपसे संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ पूर्व संस्कारके बलपर कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं। कोई सासादनसम्यग्दृष्टि जीव पूर्व संस्कारके बलपर संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्तिपूर्वक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं, और कोई सासादनसम्यग्दृष्टि जीव पूर्व संस्कारवश संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा व आरम्भीपापरूप अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे एकदेश अथवा सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि भव्य मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंके समान ही प्रवृत्ति किया करते हैं, परन्तु उनमें इतनी विशेषता है कि वे संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति किसी भी रूपमें नहीं करते हैं।

४. चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर आगेके गुणस्थानोंमें विद्यमान सभी जीव तृतीय गुणस्थानवर्ती जीवोंके समान संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा रहित होते हैं। इस तरह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव या तो आसक्तिवश आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं अथवा आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे एकदेश या सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

५. पंचम गुणस्थानवर्ती जीव नियमसे आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे एकदेशनिवृत्तिपूर्वक दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं, क्योंकि ऐसा किये बिना जीवको पंचम गुणस्थान कदापि प्राप्त नहीं होता है। इतना अवश्य है कि कोई पंचम गुणस्थानवर्ती जीव आरम्भीपापमय अदया रूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वदेश-निवृत्तिपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

६. षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव नियमसे आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वदेश निवृत्ति-पूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करते हैं, क्योंकि ऐसा किये बिना जीवको षष्ठ गुणस्थान प्राप्त नहीं होता।

७. षष्ठ गुणस्थानसे आगेके गुणस्थानोंमें जीव आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्त रहता है तथा पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी बाह्य रूपमें नहीं करते हुए अन्तरंगरूपमें ही तब तक करता रहता है, जब तक नवम गुणस्थानमें उसको अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायोंकी क्रोध-प्रकृतियोंके सर्वथा उपशम या क्षय करनेकी क्षमता प्राप्त नहीं होती। तात्पर्य यह है कि जीवके अप्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मका उदय प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्थ गुणस्थानके अन्त समय तक रहता है और पंचमगुणस्थानमें और उसके आगे उसका क्षयोपशम ही रहा करता है। इसी तरह जीवके प्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मका उदय प्रथम गुणस्थानसे लेकर पंचम गुणस्थानके अन्त समय तक रहा करता है। इसी तरह जीवके प्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मका उदय प्रथम गुणस्थानसे लेकर पंचम गुणस्थानके अन्त समय तक रहा करता है, और षष्ठ गुणस्थानमें और उसके आगे उसका क्षयोपशम ही रहा करता है तथा इन सभी गुण-स्थानोंमें संज्वलनक्रोधकर्मका उदय ही रहा करता है। परन्तु संज्वलनक्रोधकर्मका उदय व अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मोंका क्षयोपशम तब तक रहा करता है जब तक नवम गुणस्थानमें इनका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वथा उपशम या क्षय नहीं हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मका बन्ध चतुर्थ गुणस्थानके एक निश्चित भाग तक ही होता है। इन सबके बन्धका कारण जीवकी भाववती शक्तिके हृदय और मस्तिष्कके सहारेपर होने वाले यथायोग्य परिणमनोंसे प्रभावित जीवकी क्रियावती शक्तिका मानसिक, वाचनिक और कायिक यथायोग्य प्रवृत्तिरूप परिणमन ही है। जीव चतुर्थ गुणस्थानमें जब तक आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका यथायोग्य रूपमें एकदेश त्याग नहीं करता, तब तक तो उसके अप्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मका बन्ध होता ही रहता है। परन्तु वह जीव यदि आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका एकदेश त्यागकर देता है और उस त्यागके आधारपर उसमें कदाचित् उस अप्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मके क्षयोपशमकी क्षमता प्राप्त हो जाती है तो इसके पूर्व उस जीवमें उस क्रोधकर्मके बन्धका अभाव हो जाता है। यह व्यवस्था चतुर्थ गुणस्थानके समान प्रथम और तृतीय गुणस्थानमें भी लागू होती है। इसी तरह जीव पंचम गुणस्थानमें जब तक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वदेश त्याग नहीं करता तब तक तो उसके प्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मका बन्ध होता ही है, परन्तु वह जीव यदि आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वदेश त्यागकर देता है और इस त्यागके आधारपर उसमें कदाचित् उस प्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मके क्षयोपशमकी क्षमता प्राप्त हो जाती है तो इसके पूर्व उस जीवमें उस क्रोधकर्मके बन्धका अभाव हो जाता है। यह व्यवस्था पंचम गुणस्थानके समान प्रथम, तृतीय और चतुर्थ गुणस्थानोंमें भी लागू होती है। पंचम गुणस्थानके आगेके गुणस्थानोंमें तब तक जीव संज्वलन क्रोधकर्मका बन्ध करता रहता है जब तक वह नवम गुणस्थानमें बन्धके अनुकूल अपनी मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति करता रहता है। और जब वह नवम गुणस्थानमें संज्वलन क्रोधकर्मके उपशम या क्षयकी क्षमता प्राप्त कर लेता है तो इसके पूर्व उस जीवमें उस क्रोधकर्मके बन्धका अभाव हो जाता है।

इतना विवेचन करनेमें मेरा उद्देश्य इस बातको स्पष्ट करनेका है कि जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप अशुभ और दयारूप शुभ प्रवृत्तियोंके रूपमें होनेवाले परिणमन ही क्रोधकर्मके आस्रव और बन्धमें कारण होते हैं और उन प्रवृत्तियोंका निरोध करनेसे ही उन क्रोधकर्मोंका संवर और निर्जरण करनेकी क्षमता जीवमें आती है। जीवकी भाववती शक्तिका न तो मोहनीयकर्मके उदयमें होनेवाला विभाव परिणमन आस्रव और बन्धका कारण होता है और न ही मोहनीयकर्मके उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाला भाववती शक्तिका स्वभावरूप शुद्ध परिणमन संवर और निर्जराका कारण होता है। इतना अवश्य है कि जीवकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर होनेवाले तत्त्वश्रद्धानरूप शुभ और अतत्त्वश्रद्धानरूप अशुभ तथा मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाले तत्त्वज्ञानरूप शुभ और अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमन अपनी शुभरूपता और अशुभरूपताके आधारपर यथायोग्य शुभ और अशुभ कर्मोंके आस्रव और बन्धके परम्परया कारण होते हैं, और तत्त्वश्रद्धान व्यवहारसम्यग्दर्शनके रूपमें तथा तत्त्वज्ञान व्यवहार-सम्यग्ज्ञानके रूपमें यथायोग्य कर्मोंके आस्रव और बन्धके साथ यथायोग्य कर्मोंके संवर और निर्जराके भी परम्परया कारण होते हैं।

इस विवेचनसे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप जीवकी मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप अशुभ और दयारूप शुभ प्रवृत्तियाँ यथायोग्य अशुभ और शुभ कर्मोंके आस्रव और बन्धका साक्षात् कारण होती हैं तथा अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाली दयारूप शुभ प्रवृत्ति यथायोग्य कर्मोंके आस्रव और बन्धके साथ यथायोग्य कर्मोंके संवर और निर्जरणका साक्षात् कारण होती हैं, एवं जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप तथा दयारूप शुभ और अदयारूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अशुभरूपतासे रहित जीवकी मानसिक, वाचनिक और कायिक योगरूप प्रवृत्ति मात्र सातावेदनीयकर्मके आस्रवपूर्वक केवल प्रकृति और प्रदेशरूप बन्धका कारण होती है, तथा योगका अभाव कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण होता है।

इस सम्पूर्ण विवेचनसे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि जीव-दया पुण्यरूप भी होती है, जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्म रूप भी होती है तथा इस निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारणभूत व्यवहारधर्मरूप भी होती है। अर्थात् तीनों प्रकारकी जीवदयाएँ अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्त्व रखती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org